IJCRT.ORG ISSN : 2320-2882

INTERNATIONAL JOURNAL OF CREATIVE RESEARCH THOUGHTS (IJCRT)

An International Open Access, Peer-reviewed, Refereed Journal

हाड़ौती का मंदिर स्थापत्य

लोकेश गुंजल

शोधार्थी,इतिहास, कोटा यूनिवर्सिटी कोटा

हिन्दू दर्शन के अनुसार प्रत्येक शास्त्र के साथ किसी न किसी देवता अथवा ऋषि का संबंध माना जाता है। ब्रह्मा द्वारा विश्व की उत्पत्ति और वास्तु का जन्म। समरांगण सूत्रधार के अनुसार विश्वकर्मा जो कि देवताओं के रथपति थे, उन्होंने इस विद्या का ज्ञान ब्रह्मा जी से प्राप्त किया। प्रस्तुत विषय पूर्णतया मौलिक एवं अपने ढंग का प्रथम प्रयास है। यह न केवल स्थापत्य का विषय है बल्कि भारतीय दर्शन और विज्ञान का अद्भुत संगम है। हिन्दू दर्शन के अनुसार मंदिर एक दिव्य शरीर है। पौराणिक मान्यतानुसार महादेव द्वारा अंधकासुर के वध के बाद उनके पसीने की बूंद से वास्तुपुरूष की उत्पत्ति मानी जाती है।

भारत में स्थापत्य कला का उद्गम मौर्यकाल से माना जाता है। स्मिथ के अनुसार मौर्य राजाओं के मंदिर और राजमहल आदि के निर्माण भारतीय कला के विकास की कहानी कहते हैं। कुषाण और गुप्तकाल में स्थापत्य के विकास के साथ ही इसका संवर्धन भी हुआ। 5वीं शताब्दी में निर्मित पाषाण मंदिर इस बात के साक्षी हैं जिन्हें कनिंघम ने गुप्त शैली से संज्ञापित किया। भारतीय धर्म में व्यक्ति के लिए चार पुरूषार्थों की प्राप्ति को परम लक्ष्य माना गया है – धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इनमें से धर्म एवं मोक्ष की प्राप्ति हेतु प्रासादों का निर्माण किया गया। गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए व्यक्ति को ब्रह्मज्ञान करवाने हेतु प्रासाद उपयुक्त स्थल माने जाते रहे। भारतीय प्रासादों का आकाश की ओर उठते हुए ऊँचे शिखर तत्व दर्शन का माध्यम है। काव्यग्रन्थों में प्रासाद निर्माण आवासों

के भीतर ही पृथक रूप से बनाए जाने के संकेत मिलते हैं। कालान्तर में राजा–महारावों और श्रेष्ठियों द्वारा दान आदि करके गांव आदि में प्रासादों के निर्माण आरंभ हुए। दर्शन और धर्म के बिना भारतीय दृष्टिकोण की कल्पना असंभव सी जान पड़ती है। समस्त संसार को संचालित करने वाले सुन्दर– असुन्दर देवी– देवताओं के स्वरूप की कल्पना मूर्ति शिल्प के द्वारा ही संभव हुईए जो विगत शताब्दियों के राजनैतिक और सांस्कृतिक परिवर्तनों तथा बाहरी प्रभाव को आत्मसात करती हुई, अपनी विषय शैली और तकनीक को शास्त्रोक्त विधि के अनुरूप तथा अपने अनुभवों से आवृत होकर नूतन रूप देने में समर्थ रही है।

भारतीय पुराणों और शास्त्रों में भगवान की आराधना हेतु निर्मित इन भवनों को विभिन्न नामों यथा – मंदिर, प्रासाद, देवालय, देवगृह,भुवनम्, विहार, लयन आदि से संज्ञापित किया जाता रहा। मध्यकाल में अन्य की अपेक्षा मंदिर और प्रासाद यह दो नाम ही प्रधान रहे। हाड़ौती क्षेत्र में मध्यकाल से पूर्व मालवा और प्रतिहार वास्तुशैली का प्रभाव दिखलाई देता है। इन राजवंशों के काल में स्थापत्य कला की चरम उन्नति हुई। विष्णु, सूर्य, शिव, शक्ति एवं पंचदेवों की उपासना का शुभारंभ हुआ। भारतीय ग्रन्थों में नागर, द्रविड़, लतिन, फालना, भूमिज और वल्लभी आदि शैलियों का वर्णन उपलब्ध होता है। राजस्थान में विशुद्ध नागर शैली दृष्टिगत होती है। इसमें मंदिर वास्तुयोजना वर्गाकार गर्भगृह पर निर्माण था किन्तु नागर शैली सम्पूर्ण उत्तर भारत में दृष्टिगत नहीं होती। यहां क्षेत्रानुरूप विभिन्न शैलियां प्रचलन में रहीं। दक्षिण में भौगोलिक विभिन्नता के कारण होयसल और द्रविड़ शैली प्रचलित रही। इसमें षट् व अष्टकोणों को प्रयुक्त किया गया। मुख्य रूप से नागर एवं द्रविड़ शैलियों का उल्लेख ग्रन्थों में मिलता है। इन्हें नागर शैली या आर्य शैली, द्रविड़ या दक्षिण भारतीय शैली और मिश्रित शैली के रूप में बेसर शैली उल्लेखनीय रहीं।

उत्तर भारत में स्थापत्य कला के मुख्य छह केन्द्र माने गए-

1 उत्कल या कलिंग - आधुनिक उड़ीस, भुवनेश्वर, कोणार्क और पुरी।

2 बुन्देलखण्ड

3 मध्य भारत एवं राजस्थान

4 गुजरात

5 ग्वालियर

6 मथुरा और वृंदावन

हाड़ौती क्षेत्र के मंदिरों में आठवीं शताब्दी के अंतिम दशक तक उपरमाल में मालव, महामरु और महागुर्जर आदि शैलियों का समन्वय परिलक्षित होता है। हाड़ौती के मंदिरों पर मध्यकालीन भारतीय वास्तु परंपराओं का प्रभाव मरु गुर्जर शैलियों की अपेक्षा अधिक दिखाई देता है। इन मंदिरों के वास्तुशिल्प विधान में अधिकांश निरंधार हैं और यह मंच जैसी पीठ पर आधारित हैं। इनमें से अधितकर पर खुरए कुम्भए अन्तरप तथा कपोतपाली नामक गढ़ने बनाई जाती थीं। अधिकतर मंदिरों में मंच, लतिन प्रकार का शिखर, गर्भगृह, गूढ़मंडप तथा देव कुलिकाएँ तथा एकाण्डक या पण्चाण्डक शिखर बनाए जाते थे जो मुख्यतया मालवा क्षेत्र की परम्परा रही है। यदा-कदा खुर के ऊपर मध्य में एक रथिका बनी होती थी, जिसमें देव परिवार की प्रतिमाएं उत्कीर्ण होती थीं। गर्भगृह त्र्यंग प्रकार का होता था और उनके हर अंग के बीच एक सलिलान्तर, कटि तथा वरण्डिका तक चलता था।

जनश्रृतियों से ज्ञात होता है कि बून्दा नामक मीणा सरदार ने एक बस्ती का निर्माण दो पर्वत उपत्यकाओं में मध्य किया। इस कारण इस क्षेत्र को बून्दी की संज्ञा प्राप्त हुई। डा. जे.एस. गहलोत ने इस क्षेत्र को बून्दी नाल की संज्ञा प्रदान की है। इसी से बून्दी का नामकरण हुआ। यहा मीणा अधिवासन का कोई प्रमाण तिथिक्रम को प्रमाणित करने वाला नहीं है, किन्तु मीणा शासन के अन्तर्गत निर्मित चामुण्डा के पर्वतषिखर स्थित मंदिर एवं बून्दी स्थित केदारेश्वर के शिवालय की स्थापत्य कला से प्रमाणित है कि राजस्थान में

सातवीं शताब्दी ई. से जो राजपूत अधिवासन प्रसूत वास्तु शैली जन्मी थी। उससे पूर्वोक्त मंदिरों की शैली सर्वथा भिन्न है। यह साक्ष्य हाडों राजवंश के पूर्वाधिकारी मीणा शासकों द्वारा प्रसूत एक व्यापक संस्कृति का अस्तित्व बताने के लिए पर्याप्त है। फिर भी बून्दी राज्य पर मीणा जाति के कितने शासक सिंहासनारूढ़ हुए इसका कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। मीणा शासक राजतंत्र के प्रतिनिधि थे, अथवा कबीलायी शासन के स्वामी, इस प्रश्न का उत्तर अभी तक इतिहास के अध्येताओं को अपेक्षित है। मीणा शासकों द्वारा साम्राज्य विस्तार का भी कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। अन्तिम मीणा शासक जैता का हाड़ा राजपूतों से पराभूत हो जाना इतिहास की युगान्तकारी घटना थी। इसके परिणामस्वरूप सातवीं शताब्दी ई. से राजस्थान में प्रभावकारी बनती गयी राजपूत जातियों का स्थानीय कबीलों की अपेक्षाकृत अधिक शक्तिशाली होना प्रमाणित होता है। बूंदी के शासक वास्तु-कला, मूर्तिकला एवं चित्र सृजन के संरक्षण एवं प्रोत्साहन में सदैव सजग रहे। परिणामस्वरूप मूर्तिकारों एवं तक्षकों को तत्कालीन वास्तु एवं शिल्प परम्पराओं को साकार करने का पूर्ण अवसर प्राप्त हुआ। मध्ययुगीन इतिहास काल में निर्मित यहा के राजमहल, गढ़, वापी, देवालय, स्मारक, भव्य कलात्मक निर्माण के प्रतीक रहे हैं। इनके विभिन्न भागों पर उकेरी गई मूर्तिशिल्प किसी आश्चर्यलोक से कम नहीं हैं। अतः वास्तु एवं मूर्तिशिल्प की दृष्टि से मध्यकाल विशेष समृद्ध हैं।

बून्दी राज्य के पुराअवशेषों से ज्ञात होता है कि यहां मीणा अधिवासन एवं इससे पूर्व ही मथुरा व सांची प्रतिमा शिल्प के समरूपी समृद्ध कला परम्पराऐं विद्यमान थी। यहीं नहीं, तांत्रिक उपासना पद्धति एवं यंत्र साधना में भी यहाँ के शिल्प ने अपना प्रभाव विभिन्न कला प्रतीकों में अक्षुण्य बना दिया। जहां स्थानीय उपलब्ध बलुए पत्थर, लाल पत्थर एवं ग्रेनाइट से निर्मित प्रतिमा शिल्प हैं वहीं आंचलिक जैविक संरचना का समावेश भी हुआ हैं। कला मर्मज्ञों ने इस प्रतिमा शिल्प को भी अध्ययन की दृष्टि से महत्वपूर्ण माना हैं। डा. गोपीनाथ शर्मा का तत् सम्बन्धित कथन है कि शिल्प मं जो भावना व कल्पना हैं वहीं मूर्तिकला हैं जो शास्त्रबद्ध प्रक्रियाओं द्वारा मनुष्य जीवन समझने का माध्यम बनता हैं। यही कला देश की सांस्कृतिक प्रगति का प्रतिबिम्ब बनती है। मनुष्य या देश ने धार्मिक चिन्तन या भावनाओं के प्रभाव में कितनी उन्नति की उसका नाम मूर्तिकला है।

कोटा क्षेत्र के अधिकांश मंदिरों में मंच, लतिन प्रकार का शिखर,गर्भगृह, गूढ़मंडप तथा देव कुलिकाएँ तथा एकाण्डक या पण्चाण्डक शिखर बनते हैं,जो मालवा क्षेत्र की परंपरा है। वेदी बंध की गढ़नों में भी खुर, कुंभ, कलश और कपोतपाली प्रमुख हैं। कभी- कभी खुर के ऊपर मध्य में एक रथिका बनी रहती है,जिसमें देव परिवार की प्रतिमा उत्कीर्ण होती है। गर्भगृह त्र्यंग प्रकार का होता है, प्रत्येक अंग के बीच एक सलिलान्तर, कटि तथा वरण्डिका तक चलता है। मंडोवर की ताखों में स्तंभ गोल तथा उन पर आमलक के अभिप्राय अंकित होते हैं। कोटा क्षेत्र शिव तथा अन्य देवों के मंदिरों से परिपूर्ण था। इस क्षेत्र में विभिन्न मंदिरों का प्रमाण हमें अटरु, चार- चैमा, मुकन्दरा, आमवां, कृष्ण विलास, बूढ़ादीत, कन्सुआ आदि स्थानों से प्राप्त होता है। इनके आधार पर तत्कालीन धार्मिक संप्रदायों की लोकप्रियता का अनुमान लगाया जा सकता है। कृष्ण विलास के अवशेषों से वैष्णव मंदिरों की विद्यमानता का पता चला है। रामगढ़ एवं अटरु के मंदिर इस क्षेत्र के अन्य मंदिरों से अपेक्षाकृत आकार में बड़े हैं।[1] ये दोनों ही शैव मंदिर थे। कोटा जिले में मुकन्दरा के पश्चिम में आमवां का पूर्वाभिमुखी तीन गर्भगृह वाला मंदिर की संरचना अपने निकटवर्ती मंदिरों से भिन्न बटेसेर (भोरैना) व बडौह (विदिशा) के मंदिरों से मिलती जुलती है। इसके साथ ही इस मंदिर में क्षेत्रीय विशेषताएँ भी हैं। इससे शिल्पियों के आवागमन एवं सांस्कृतिक आदान- प्रदान का प्रमाण मिलता है।

राजस्थान के हाड़ौती अंचल और मध्यप्रदेश के मालवा के संधिस्थल पर स्थित झालावाड़ जिला रामायण से लेकर बीसवीं शताब्दी तक के साक्ष्य बटोरे हुए है। झाला जालिमसिंह द्वारा स्थापित झालावाड़ एवं झालरापाटन नगर का सांस्कृतिक वैभव इसके शिलालेखों में झलकता है। कर्नल जेम्स टाड ने अपनी पुस्तक द एनल्स एण्ड एंटीक्वीटीज आफ राजस्थान में भी इसका विवरण दिया है। एक ओर अवन्ती तो दूसरी ओर दशपुर मालवा का पूर्वी भाग इसी कारण यहां के मंदिरों और मूर्तियों पर मालवा की कला का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। गुप्त साम्राज्य की महिमा इसकी कला और साहित्य के माध्यम से परिलक्षित होती है। गुप्त शासकों द्वारा विस्तारित राजनीतिक स्थिरता और संरक्षण ने ईंटों, पत्थरों और गुफाओं से विभिन्न ब्राह्मणवादी मंदिर की स्थापना को बढ़ावा दिया। यह

[1] □□□□□□ □□□□□- □□□□□□□□ □□ □□□□□ □□□□□□□ □□□□□□□□□□ □□ □□□□□□ □□□□□□,□□□□□□□ □□□□ □□□□□□□ □□ □□□□□ □□□ □□□□□□□□□ - □□□□□□

भौगोलिक विशेषताएं गुप्त मंदिरों की दिशा और गति को प्रभावित करती हैं। इसके साथ ही व्यापार और वाणिज्य और धार्मिक उत्साह ने अपनी प्रकृति और पत्तियों को निर्धारित करने में प्रमुख भूमिका निभाई। मुकुन्दरा में स्थित प्राचीन शिव मंदिर प्रारंभिक गुप्त मंदिर परंपराओं के अध्ययन के लिए पश्चिमी भारत में एक महत्वपूर्ण केंद्र है। यह शिव मंदिर मालवा से लेकर उत्तर भारत की मंदिर शैली में संबंध स्थापित करता है।

गुप्त कला पश्चिमी भारत और हाड़ौती क्षेत्र के अन्य महत्वपूर्ण केंद्रों में में पर्याप्त रूप से विस्तृत हुई। कोटा मुख्यालय से लगभग 25 किमी की दूरी पर दक्षिण–पूर्व दिशा में शिव मंदिर स्थित है। यहां स्थित ब्राह्मी लिपि में शिलालेख भारतीय कला और वास्तुकला का शानदार नमूना है जो इस मंदिर के समकालीन कला शैलियों के साथ खुद को समृद्ध करता है। जेम्स विलियम के अनुसार चारचैमा एक ओर मुकुंन्दरा और दूसरी तरफ नागरी के अवशेषों और मंदसौर क्षेत्र के बीच की खाई को भरते हैं जो विशिष्ट स्थानीय परंपराओं और अखिल भारतीय शैली के बीच बातचीत का प्रदर्शन करते हैं जो अभी भी गुप्त साम्राज्य की गोधूलि के दौरान काम कर रहे थे।

गुप्त काल से उत्तर गुप्त काल में कला और वास्तुकला के क्रमिक विकास के चरण दृष्टिगत होते हैं। आरंभ में हमें आयताकार और वर्गाकार प्रकार का स्थापत्य दिखलाई देता है। उसी प्रकार शिखर स्थापत्य में भी पहले चपटे बाद में नागर शैली के शिखर पाते हैं। विकास की यह अवस्थाएं देवगढ़ ,नचना आदि के मंदिर में भी देखी जा सकती है। हाड़ौती के आसपास के क्षेत्रों जैसे मेवाड़ और मारवाड़ के पड़ोसी क्षेत्रों में कला और वास्तुकला के विकास के चरण समानता रखते हैं। शिलालेखों से प्रमाण रूप में समान महत्वपूर्ण विकास मध्य प्रदेश और मध्य भारत में मंदसौर और अन्य स्थानों, उत्तर पूर्व से दक्षिण–पश्चिमी दक्षिणावर्त दिशा में हाड़ौती तक समृद्ध मूर्तियों और वास्तुकला से जाना जाता है। यह पूर्वी भारत में गुप्त काल के बाद के रहस्यों के विकास को प्रदर्शित करता है।

मुख्य भाब्द

देवालय . देवताओं के रहने का स्थान

गर्भगृह. हिंदू और जैन मंदिरों में जहां प्राथमिक देवता की मूर्ति या प्रतीक स्थापित होती है।

शिखर– भारतीय वास्तुशास्त्र में उत्तर भारतीय मंदिरों के गर्भगृह क ऊपर पिरामिड आकार की संरचना को शिखर कहते हैं।

मंडप– देवमंदिर के ऊपर का छायाकार भाग

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1- Dhaka Dr. Ambika – Brahmanical Temple Art and Architecture in Hadoti , First edition Pub- Bhartiya kala Prakashan Tri nagar Delhi 110035

2. **अमितेश कुमार– राजस्थान के मंदिर निर्माण गतिविधियों के प्रमुख केंद्र, झालावाड़ कोटा क्षेत्र के मंदिर तथा मूर्तिकार – परंपरा**

3. **शर्मा ललित – झालावाड़ इतिहास, संस्कृति और पर्यटन, तृतीय संशोधित संस्करण, प्रकाशन– पर्यटन विकास समिति झालावाड़ राज.**

4. **भारती– कासलीवाल मीनाक्षी– भारतीय मूर्तिशिल्प एवं स्थापत्य कला, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी , प्रथम संस्करण 2009**

5. **फोटो–ए.एच. जैदी, कोटा राजस्थान**